सकता', ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। दर्शन और साहित्य में रुचि लेने वाले लोग अगर आपस में ज्यादा मिल बैठकर बातचीत करें तो शायद कुछ ऐसी नई रचनाएँ जन्म ले सकती हैं जिनमें एक-दूसरे का असर अधिक परिलक्षति हो। पंतजी ने भी, श्री अरविन्द के प्रभाव में कुछ दार्शनिक कविताएँ लिखी थीं। 'बिखरादी किसने स्वर्ण धूलि जगती के इस मरुथल में' आदि-आदि। और निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों ने तो दार्शनिक बातों को अपनी कृतियों में अनेक तरह से कहा है, पर इन सबको 'दार्शनिक साहित्य' नहीं कहा जा सकता, हालांकि इसमें दर्शन प्रचुर मात्रा में मौजूद है। दर्शन इनका विषय अवश्य है, पर इनसे प्राप्त 'दर्शन-साहित्य' के उदाहरण तो वास्तव में बहुत कम हैं; अगर कुछ हैं, तो वे सबको विदित हैं। कबीर और नानक का नाम इनमें अग्रणी है, भारत की अनेक भाषाओं में इनके उदाहरण आसानी से मिलते हैं, और उन्होंने ही भारत की दार्शनिक परम्परा को साहित्य के माध्यम से जीवित रखा है।

❑

भारतीय संस्कृति और कला के कुछ आशय

'कला', जैसा आम तौर पर हम इस धारणा को समझते हैं, उसमें एक मौलिक दोष है। 'कला' का मतलब इधर चित्रकला, नृत्य, स्थापत्य वगैरह तक ही सीमित हो गया है, पर पूरी संस्कृति ही एक 'कला' है। 'कला' वह है जो मनुष्य की एक सृष्टि है। मनुष्य को एक 'सृष्टा' के रूप में देखिए। वह क्या-क्या सृष्ट नहीं करता? वह विविध आयामों में अनेक जगतों की सृष्टि करता है और उनमें रहता है। वे ही जगत् उसे सार्थक लगते हैं। खेल को हम कला क्यों नहीं कहते? खेल की भी अपनी एक अलग दुनिया है। उसी दुनिया में एक खिलाड़ी रहता है, उसके अनेकानेक दर्शक भी होते हैं। खेल एक ऐसे अजीब जगत् की सृष्टि है जिसके बारे में आप सोच ही नहीं सकते। पर हजारों लोग उसमें रहते हैं, और वे खेल में ही अपने जीवन की सार्थकता पाते हैं।

जीना स्वयं एक कला है। आप कैसे जीते हैं? कोई आप से मिलकर प्रसन्न होता है या दु:खी। तुलसीदास जी ने एक जगह कहा है—"बिछुरत एक प्राण हर लेही। मिलत एक दारुण दुख देही।" तो ये कला का एक व्यापक संदर्भ है और मैं समझता हूँ, प्रारम्भ में इसकी ओर इशारा करना ज़रूरी है।

यहाँ से हम अगर अपनी बात प्रारम्भ करें तो संस्कृति के आशयों को शायद कुछ अधिक समझ पायेंगे। संस्कृति की बात करते हुए मैं दो बातें आप लोगों के सामने रखना चाहता हूँ। पहला तो ये कि संस्कृति कोई भौगोलिक चीज़ नहीं है। जब हम 'भारतीय संस्कृति' कहते हैं, तो उसका अर्थ क्या है।

भारत एक देश है। और देश ऐसा स्थान है, जहाँ देश-काल में हर चीज़ का जन्म होता है। जो भी चीज़ उत्पन्न होती है—वह एक देश-काल में ही उत्पन्न और स्थित होती है। लेकिन वह वस्तु अपने जन्मस्थान या उसके उत्पत्ति स्थान तक ही सीमित नहीं होती। फर्ज़ कीजिए अगर आप यह मानें कि 'भारतीय संस्कृति' या 'भारतीय' शब्द किसी भौगोलिक सत्ता का द्योतक है तो आपको अनेकानेक कठिनाइयाँ होंगी। भारत की आज की (भौगोलिक) सीमाएँ सन् सैंतालीस से पहले तो नहीं थीं। भौगोलिक सीमाएँ हर इतिहास काल में घटती बढ़ती रहती हैं। तो पहली बात तो यह है कि संस्कृति कोई भौगोलिक चीज नहीं है।

दूसरी बात जो इससे अधिक महत्त्व की है और जिसकी चर्चा मैं विशेष तौर से करना चाहूँगा, वह यह है कि भारतीय संस्कृति, जिसे हम समझना चाहते हैं, कोई वस्तु विशेष तो है नहीं, इसलिए संस्कृति को समझना, एक तरह से अपने आपको समझना है। अगर हम अपने को नहीं समझते, तो संस्कृति को कैसे समझेंगे? और अपनी संस्कृति को समझने के लिए, कहीं बाहर जाने की ज़रूरत नहीं है। आप अपने अंतराल में प्रवेश कीजिए, आपको अपनी संस्कृति का अहसास अनेकानेक स्तरों पर हो जाएगा। जितना आप गहरे उतरेंगे उतना ही आपको अपनी संस्कृति की अधिक गहरी जड़ों का साक्षात्कार होगा।

पर इससे भी अधिक महत्त्व की बात कुछ और है। अगर संस्कृति जीवन्त है तो उसको समझने की प्रक्रिया भी भिन्न है, क्योंकि वह संस्कृति समाप्त नहीं हुई है। संस्कृति को समझने के लिए आपको कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है, जैसा अभी मैंने कहा—बाहर देखने की ज़रूरत नहीं है, अंदर देखिए।

और अब मैं इसी से मिलती हुई पर थोड़ी सी भिन्न बात कहना चाहता हूँ कि यदि आपकी संस्कृति जीवन्त है, प्राणवान् है, तो एक तरह से 'अपूर्ण' है, क्योंकि जहाँ अभी प्राण है। वहाँ केवल वर्तमान ही नहीं है, बल्कि उस संस्कृति का एक भूत और एक भविष्य भी है। और उस भविष्य में आप स्वयं एक सृष्टा हैं, एक भागीदार भी हैं। आपको संस्कृति में धरोहर के रूप में कुछ मिला है। कुछ औरों ने बनाया था, उन्होंने आपके लिए कुछ छोड़ा है पर आपको एक उत्तरदायित्व दिया है, उसको आगे कैसे ले जाएँ? अक्सर ये कहा जाता है—"अभी हमारा नामो-निशाँ बाकी है" पर यह शायद गलत है क्योंकि नामोनिशाँ ही बाकी नहीं है, सब कुछ बाकी है। यानि हमारी संस्कृति उस प्रकार की संस्कृति नहीं है, जिस प्रकार की अनेकानेक ऐसी संस्कृतियाँ हैं, जिनकी चर्चा की जाती है और जो इतिहास का विषय हो चुकी हैं। जिनको एक इतिहासज्ञ जानता है, जिनकी खोज करता है, जिनके बारे में लिखता है।

और परेशानी ये है कि भारतीय संस्कृति के बारे में कई लोग, चाहे वे पश्चिम के हों, या हमारे ... उनका दृष्टिकोण संस्कृति के प्रति ऐसा ही है जैसा उन संस्कृतियों के प्रति है, जो एक प्रकार से लुप्तप्राय: हैं या समाप्त सी हो गई हैं। जो बन चुकी हैं। अब जिनको समझना है। जो अजायबघरों में या पुस्तकालयों में बंद हैं। उनको देख कर या पढ़ कर समझना है। पर जो भारतीय संस्कृति है, जो जिन्दा है, वह उस मनुष्य की तरह से है, जो अभी मरा नहीं है। उसने बहुत कुछ किया है। ठीक है, जो कुछ उसने किया है उसे आप ढूँढ़ते हैं, जानते हैं, समझते हैं। पर वास्तव में ज़िन्दा रहना कई तरह का होता है। आप लोग जो कला के क्षेत्र के हैं, इसलिए इसे अधिक अच्छी तरह समझेंगे और इस बात को अधिक ऐप्रीशिएट करेंगे कि कला में कोई व्यक्ति वास्तव में प्रसिद्ध इसलिए होता है कि वह उस कला में कोई नई सृष्टि करता है, या नई चीज़ देता है। लेकिन उसके बाद

अगर वह ज़िन्दा है, तब उसके सामने हमेशा ये सवाल पैदा होता है कि जिस चीज से वह प्रसिद्ध हुआ था अब क्या वह उसी को दोहराता रहे या कोई नई चीज़ पैदा करे? हर गाने वाला, जिसका आप गाना सुनते हैं, आप सोचते हैं, भई, ये तो सुना हुआ है, वहीं बात दोहरा रहा है। ये चित्रकार कोई नई बात नहीं कह रहा है। और हम भी ये समझते हैं कि ये आदमी ज़िन्दा तो है, लेकिन कलाकार के रूप में मर चुका है। इस बात पर आप ध्यान दीजिए कि आप ज़िन्दा हैं लेकिन एक कलाकार के रूप में, एक दार्शनिक के रूप में, चिन्तक के रूप में मर चुके हैं। आपने कभी कुछ किया था, और लोग उसकी प्रशंसा भी करते हैं, लेकिन लोग ये भी जानते हैं कि अब आपके पास कहने को कुछ नहीं है। वही बात आप बार-बार दोहराते रहते हैं। तो संस्कृति के बारे में भी ये बात सत्य है। अगर आप, जो कुछ, पुराने लोगों ने किया है, उसी को दोहराते रहें, उसी की प्रशंसा गाते रहें, और अपने को धन्य मानते रहें, तो आप करीब-करीब मर चुके हैं। जीवन्त संस्कृति का जो पहला लक्षण है वह यह है कि उसमें स्मृति तो रहती है जैसे मनुष्य में स्मृति रहती है, लेकिन वह स्मृति से ही बँधी नहीं होती।

मानसिक रूप से स्वस्थ आदमी और मानसिक रूप से रोगग्रस्त आदमी में क्या भेद होता है? यों तो उनमें अनेकानेक भेद हैं। लेकिन एक भेद यह है कि एक की स्मृति 'ऑबसैशन' के रूप में होती है। स्मृति उस पर हावी होती है। वह उस स्मृति से बँधा हुआ होता है, वह बार-बार वहीं लौटता है, जबकि दूसरे स्वस्थ आदमी की स्मृति उसको सम्बल और शक्ति देती है। वह उससे बँधा नहीं होता। स्मृति उसे स्वतंत्र करती है—अपने से, नई चीज सृष्ट करने में। इसके अनेकानेक आयाम हैं। पर एक आयाम जो कला के संदर्भ में, मैं फिर कहता हूँ वह यह है कि जिस चीज़ ने, जिस कला की सृष्टि ने आपको यह आभास दिया था या दूसरों को भी यह आभास दिया था कि आप नए सृष्टिकर्त्ता हैं और जिस चीज़ ने आपको एक नए कलाकार, नए सृष्टा होने का भाव या एक नई दृष्टि दी है, आपको उसका मोह होने लगता है। क्योंकि उससे आपकी प्रतिष्ठा हुई थी। और चूँकि उससे आपकी प्रतिष्ठा हुई थी, इसलिए बच्चन जी को लोगों ने 'मधुशाला' का कवि मान लिया। जब भी बच्चन जी कहीं जाते—लोग उनसे कहते थे—'मधुशाला सुनाइए।' वे तंग आ गए थे। संस्कृति के साथ भी ये होता है।

कलाकार जैसे मोह में पड़ जाता है, जो उसकी प्रथम-सृष्टि थी। इसी प्रकार संस्कृतियों की प्रथम सृष्टि के मोह में लोग पड़े रहते हैं। कोई वेद के मोह में पड़ा हुआ है। आजकल हमारे यहाँ वेद की बड़ी चर्चा होती है। कितना बड़ा मोह है। आप सोचिए कि सृष्टि के प्रारम्भ में ...। यहाँ बच्चन जी की लाइन याद आ गई मुझे ...।

सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषि ने ऊषा के गाल चूमे ... बच्चन जी की लाइन ये नहीं, अलग है—"सृष्टि के प्रारम्भ में मैंने ऊषा के गाल चूमे...बाल रवि के भाग्य

वाले, दीप्त भाव विशाल चूमे, प्रथम संध्या के अरुण दृग चूम कर मैंने सुलाये"... लेकिन बात जो मैं कहना चाहता हूँ वो भिन्न है। वो ये कि जो ऋषि था, कवि था कविर्मनीषी, उसने कुछ देखा। उसने कुछ कहा। और हम समझते हैं कि हमारी सृष्टि का जो प्रथम आदि स्रोत हमें लगता है, हम उसी के मोह में पड़ गए हैं।

उसके बाद क्या हुआ? उसके बाद क्या ये सृष्टि समाप्त हो गई? क्या हमारी संस्कृति के लोग उसी प्रकार प्रथम संस्कृति से बँधे रहे? बुद्ध हुए। महावीर हुए। हजारों लोग हुए। अगर आप इस संस्कृति का इतिहास जानना चाहते हैं तो हर उस आदमी की तरफ देखिए जो उस स्मृति के मोह में नहीं पड़ा। उसे स्वतंत्र रूप में लेकर उससे आगे बढ़ा। आज संस्कृति की बात करने वाले हम जो लोग हैं वे भी वास्तव में अपनी संस्कृति को ऐसे रूप में देखने लगे हैं जैसे अक्सर पश्चिम के विद्वान् हमारी संस्कृति को देखते हैं। उनके लिए ये संस्कृति जीवन्त नहीं है। यह उनकी आत्मा भी नहीं है, उनके लिए यह वस्तु है, विषय है, जिसके लिए प्रोफेसरशिप होती है, किताबें लिखी जाती हैं। पर हम लोगों के लिए ऐसा नहीं हो सकता। किसी भी भारतीय के लिए, चाहे भारतीय शब्द का कोई भी अर्थ आप लें, भारतीय संस्कृति के प्रति उसकी दृष्टि, भावना, पूर्णत: भिन्न होगी। वह अगर भिन्न है, तो किस प्रकार से भिन्न है? परेशानी ये है कि हमारी स्वयं अपनी दृष्टि दूषित हो चुकी है। हमारी दृष्टि उन लोगों की दृष्टि से परिचालित हो रही है, जो हमारी संस्कृति को कुछ इस प्रकार से देखते हैं जैसे वह कोई विषय-वस्तु हो। जैसे इसका कोई भविष्य नहीं है। जो होना था, वो हो चुका। हम भी यह मान बैठे हैं कि जो कुछ होना था वो तो हो चुका पर अगर हो चुका तो आपकी संस्कृति भी मरणशील हो चुकी। पर जिस संस्कृति ने अभी आधुनिक युग में गाँधी और अरविन्द जैसे लोग पैदा किए वह मरणशील कैसे हो सकती है? इनके बाद के युग के और भी कई नाम इसमें गिनाए जा सकते हैं...पर यदि आपकी दृष्टि में परिवर्तन है तो ही आप ऐसी संस्कृति की जीवन्त परम्परा में होते हैं—चाहे उसके किसी भी काल खण्ड में हों। हाँ, तो मैं कह रहा था कि हर बड़ा कलाकार एक अर्थ में अप्रतिम है। उसका अपना एक निजी ढ़ग होता है।

हमारे यहाँ कला के क्षेत्र में 'नित्यनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' की बात की गई है, वैसे ही संस्कृति के संदर्भ में भी नित्यनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की बात होनी चाहिए। यह कैसे होगी? संस्कृति के सीमित अर्थ में भी कला, संस्कृति का अभिन्न अंग है, और हम एक कलाकार से प्राय: सहज अपेक्षा करते हैं कि वह कोई नवीन दृष्टि उत्पन्न करे, पुराने को सहज दोहराता न रहे, तो जिस संस्कृति का वह कलाकार एक अभिन्न अंग है, उस संस्कृति के प्रति भी ऐसी ही दृष्टि कैसे विकसित नहीं हो सकती? उस संस्कृति के हर क्षेत्र में दृष्टि यही होगी कि पुरातन आखिर कितना ही बड़ा क्यों न हो, पर हमारा कर्त्तव्य है कि जीवन्त और जीवित

परम्परा का हिस्सा होने के नाते हम एक नई चीज़ पैदा करें और यह प्रमाण दें कि हम मरे नहीं हैं। पर...ये 'पर' जो है, इसके बाद की कथा अजीब है।

कला के कुछ क्षेत्रों में हमारी परम्पराएँ जीवित हैं। वहाँ हमारे अपने मानदण्ड हैं। हम पश्चिम या बाहर की ओर देखते नहीं हैं कि वे क्या करते हैं? वे हमें पसंद करते हैं नहीं, या हमारी प्रशंसा करते हैं या नहीं? नृत्य और संगीत जैसे कुछ क्षेत्रों में हमारे अपने मूल्य हैं, हमारे अपने मानदण्ड हैं। पर कला के ही अन्य क्षेत्रों में हमारे मानदण्ड, हमारे अपने नहीं है और यदि आपके मानदण्ड आपके नहीं हैं तो आप जीवन्त कैसे हो सकते हैं? हर कलाकार अपना मानदण्ड प्रस्तुत करता है।

मैं आपको अपनी एक कहानी सुनाता हूँ। यही कहानी आपकी भी हो सकती है। यदि आपने पहली-पहली बार किसी बड़े, बहुत बड़े संगीतज्ञ को सुना है और आप उसके संगीत पर मोहित हुए हैं, लट्टू हुए हैं, तो आपको लगता है अच्छा गाना इसी प्रकार से गाया जाता है। आपके कानों को आदत होती है उसको ढूँढ़ने की, उसी को सुनने की, पर जब आप किसी दूसरे उतने ही बड़े कलाकार को सुनते हैं, और पहली बार सुनते हैं, तो अजीब सा लगता है क्योंकि आपके कानों को ऐसा भिन्न सुनने की आदत ही नहीं है। धीरे-धीरे वह कलाकार आपसे जैसे कहता है—"मेरी तरह सुनो, मेरी तरह देखो।" जब अमीर खाँ को मैंने पहली बार सुना, तो पहले दस मिनट तक तो मुझे यही लगा आखिर यह कैसे गा रहे हैं? उन दिनों ओंकारनाथ जी गाते थे, और लोग भी गाते थे, लेकिन दस पन्द्रह मिनटों के बाद के बाद मेरे अंदर से जैसे किसी ने कहा—इनकी तरह सुनो और सचमुच 'उनकी तरह' सुनना भी उतना ही अद्भुत था। 'इट वाज़ ए रीयल ऐक्सपीरिऐंस।' यही बात हर क्षेत्र में होती है कि हर बड़ा कलाकार एक नई दिशा देता है। वह आपमें कुछ नया सुनने की आदत ड़ालता है, नया देखने की आदत ड़ालता है। लेकिन तभी जब आपके स्वयं के मानदण्ड़, आपके अंदर से निर्मित हों।

इस बात पर अलग से विचार होना चाहिए कि एक कला-विशेष का इतिहास, उसके विकास में साधक सिद्ध होता है या बाधक? कभी आप लोग इस पर भी सोचें। किन क्षेत्रों में, किसी परम्परा का इतिहास वास्तव में आपको नई सृष्टि करने में मदद करता है या बाधा बन कर आपके मार्ग में खड़ा होता है?

कालिदास की प्रसिद्ध उक्ति है—"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" तब ज़रूर कालिदास एक नवयुवक रहे होंगे, उनसे पहले माघ, अश्वघोष वगैरह दूसरे दिग्गज कवि थे, और तब कालिदास को लगा होगा कि मैं अपनी तरह से कोई बात कहना चाहता हूँ, तब यह बात आई होगी—पुराणमित्येव न साधु सर्वम्।

हमारी जीवन्त संस्कृति के प्रति दृष्टि का भी यही 'मोटो' होना चाहिए—"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्।"

अब प्रश्न है कि आगे आने वाले समय में आप अपने मानदण्ड़ कैसे स्थापित करें? उदाहरण के लिए आज ये चर्चा हम हिन्दी में कर रहे हैं। बहुत कम

संगोष्ठियाँ ऐसी होती हैं जिसमें हिन्दी में ही भाषण हों या चर्चाएँ हों। अगर आपको ऑल इण्डिया सेमीनार करनी होगी तो अंग्रेज़ी में ही करेंगे। ऐसा बहुत कम हुआ है और बहुत कम देखने में आया है कि आप अपनी भाषा में बोलिए और विचार कीजिए, और जो लोग वो भाषा नहीं जानते हैं, उनके लिए आप उसका अच्छा अनुवाद अंग्रेज़ी या दूसरी भाषा में उपलब्ध कराइए। अगर भारत एक बहुभाषी देश है, तो यह एक अच्छी बात ही है। हमें पश्चिम के लोगों ने यह गलत बताया है कि आपकी कमजोरी है कि आपके यहाँ बहुत सी भाषाएँ हैं। भाषाओं की विभिन्नता, ये भाषिक-वैविध्य, कमजोरी तो नहीं है लेकिन हमें इसके लिए वातावरण और सुविधाएँ भी पैदा करनी पड़ेंगी कि जो व्यक्ति अपनी भाषा में बोलता है, दूसरों की सुविधा के लिए आप उसका अनुवाद करके दूसरी भाषा में भी प्रस्तुत कर सकें। आप यह सोचेंगे कि संस्कृति की बात करते-करते मैं भाषा की बात अचानक क्यों करने लगा?

वैसे तो इसलिए कि आज भी जो कुछ हिन्दी में लिखा जाता है, खास तौर पर विचार के क्षेत्र में अंग्रेज़ी का अनुवाद है। ऐसा लगता है कि जैसे हिन्दी के पास अपने न प्रत्यय हैं, न बिम्ब हैं। जिस देश की संस्कृति में ढ़ाई-तीन हजार वर्षों की लम्बी वैचारिक परम्परा है उतनी किसी और संस्कृति में...मुझे अपनी संस्कृति से इतना कोई विशेष मोह नहीं है, ये बाद में बताऊँगा आपको...(हँसी) किसी और संस्कृति में शुद्ध बौद्धिक विचार का इतना परम्परागत, क्रमबद्ध बगैर टूटे हुए, आगे बढ़ते हुए, इतिहास नहीं है। आप न्याय दर्शन की परम्परा लीजिए। ऋषि गौतम के न्याय-सूत्र से लेकर बद्रीनाथ शुक्ल तक जिनकी अभी मृत्यु हुई है, आपको आश्चर्य होगा। शुक्ल जी को न मानिये, बच्चा झा को मानिये, बच्चा झा को न मानिये, आप 'व्युत्पत्तिवाद' के लेखक को, औरों को, गदाधर को मानिये...बीसियों हैं...अठारहवीं शताब्दी तक। जीवन्त परम्परा है। एक के बाद एक के बाद एक के बाद एक। ग्रन्थ उपलब्ध हैं। शुद्ध बौद्धिक परम्परा है। और इसी तरह की दूसरी परम्पराएँ हैं। आप अद्वैत वेदान्त की परम्परा लीजिए। लिंग्विस्टिक्स में पाणिनी से परम्परा है। अब तक है।

ये सब जीवन्त परम्परा के लक्षण हैं, लेकिन, यह सबसे बड़े अफसोस की बात है कि आज का, जो भी बौद्धिक चिन्तन है चाहे वह भाषाओं में हो, या अंग्रेज़ी में हो, है वह अंग्रेज़ी से ही प्रभावित। चाहे फिनॉमिनोलॉजिस्ट हों, या ऐग्जिस्टैंशलिस्ट्स, आप देखिए कि है क्या आपके यहाँ चिन्तन? यह कहने में आपको गर्व होता है कि आप उस चिन्तन की परम्परा से जुड़े हुए हैं, जो मार्क्स से या सार्त्र से निःसृत हुई या हाइडेगर से हुई या डेरिडा से हुई, आज के जो नए-नए नौजवान लड़के हैं, वो पागल हैं—फूको के ऊपर या जॉक डेरिडा के ऊपर। बाहर से आए हुए किसी भी विचार या लिटरेचर का मोह इतना बड़ा है। ऐसा नहीं कि बाहर की सभ्यताओं संस्कृति का ज्ञान होना ज़रूरी नहीं है। पर हमारी लड़कियों ने साड़ी छोड़ कर फ्रॉक पहनना तो शुरू नहीं किया।

परम्परा में जो हुआ है उससे सम्बद्ध करके उसमें कमी निकाल कर, नई चीज़ पैदा करना। तभी परम्पराएँ जीवित रहती हैं।

अभी मैं एक पुस्तक पढ़ रहा था। पुस्तक एक जर्मन विद्वान् की लिखी हुई है, अंग्रेज़ी में है और वह लेखक अमेरिका में है, क्योंकि आजकल सभी लोग अमेरिका में ही होते हैं चाहे वो जर्मन हों या फ्रेंच...(हँसी) उन्होंने भारतीय दर्शन पर एक पुस्तक लिखी है। इतनी बढ़िया किताब मैं कहता हूँ...इतनी स्कॉलरशिप...कि बस गज़ब है। हर पृष्ठ गज़ब है...उसमें एक विशेष बात है। वो ये कि जब भी वह कोई बात कहते हैं—मूल उद्धृत करते हैं—संस्कृत से। मैंने इसी किताब से एक और बात सीखी या लगी कि हमारे यहाँ भारतीय दर्शन के क्षेत्र में चिन्तक उन शब्दों का उन विचारों का, उन प्रत्ययों का प्रयोग नहीं करते, जो वास्तव में हमारे ग्रन्थों में उपलब्ध हैं और वे इतने सुन्दर हैं, इतने सूक्ष्म हैं और इतने 'प्रिसाइस' जिसको कहते हैं। मुझे उन उद्धरणों को पढ़ कर लगा कि जो लोग हिन्दी में भारतीय दर्शन की चर्चा करते हैं अगर वे इन प्रत्ययों को जानते होते तो जिस भाषा का वे प्रयोग करते हैं—हिन्दी में, तो वह भिन्न होती। उसमें वास्तव में जान होती। अब वे जिस भाषा का प्रयोग कर रहे हैं, वो बनावटी भाषा है उसमें प्राण नहीं है। चिन्तन के क्षेत्र में अगर आपका संस्कृति से सम्बन्ध नहीं है, तो दो चीज़ें होती हैं...।

संस्कृति है क्या? जो भी चीज़ देश और काल में होती है, वह नाम और रूप होती है। लेकिन उस नाम और रूप का, जिसे परम्परा ने तीन हजार सालों तक संवारा और बराबर विकसित किया है, अगर आप प्रयोग नहीं करेंगे तो नाम और रूप व्यर्थ है। नाम में कुछ नहीं, लेकिन बहुत कुछ है। नाम से आप जाने जाते हैं, पहचाने जाते हैं। तुलसीदास जी ने कहा था—"राम ते अधिक राम का नामा।" इसमें एक बड़ी फिलॉसफिकल लैंग्वेज छिपी है। राम से बड़ा राम का नाम है। क्यों है? राम तो अपने चारों तरफ जो लोग थे, उन्हीं को मुक्ति दे सकते थे, लेकिन राम का नाम तो, जब राम नहीं हैं, तब भी करोड़ों को दे सकता है। इस पर विचार कीजिए। तो परम्परा और संस्कृति, नाम और रूप से परे है, लेकिन वह नाम और रूप से बँधी है। और अगर हम उन प्रत्ययों का, नामों का प्रयोग नहीं करेंगे, उन समस्याओं से नहीं जूझेंगे और विचार के क्षेत्र की उन समस्याओं को अपनी समस्या नहीं मानेंगे तो जिस संस्कृति के आप उत्तराधिकारी हैं, उससे उऋण नहीं हो पायेंगे। पितृ और गुरु ऋण की तरह ही एक ऋण संस्कृति का भी है कि आप उसे कैसे विकसित करें? हमारी संस्कृति जीवन्त तो है, पर डरे हुए लोगों की संस्कृति है जो सही को सही और गलत को गलत कहने का साहस नहीं जुटा पाते। डरपोक लोग कभी संस्कृति के वाहक नहीं हो सकते। उस देश में, जिस देश में वेद की निन्दा प्रारम्भ से की गई कि वेद-पाठी टर्राते हुए मेंढ़कों की तरह हैं। यहाँ तक कि गीता के लेखक ने खुद वेद की निन्दा की—

"...पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति व्यविपश्चितः।"

और खुद गीता के लिए लोगों ने क्या कहा? आपकी परम्परा सजग, निडर, निर्भय लोगों की है। परम्परा के प्रति आदर, श्रद्धा, सम्मान, स्नेह की दृष्टि रखना उससे सहमति रखने या उस पर अंधविश्वास करने से अलग है। यह बोध भी ज़रूरी है कि हमारी ही नहीं, अन्य संस्कृतियाँ भी महान् हैं। दूसरी संस्कृतियों से हमारा सम्पर्क बहुत व्यापक था। कहते हैं पुराने ज़माने में शुद्ध न्याय की शास्त्र चर्चा में बाहर से आने वाले प्रत्येक नैयायिक से एक ही प्रारम्भिक सवाल पूछा जाता था—"क्या वह कोई नया पूर्व-पक्ष लाया है?" यह थी हमारी सभ्यता, यह थी संस्कृति और परम्परा। यह समृद्ध, जागृत, आत्मनिष्ठ संस्कृति का ही लक्षण है कि वह दूसरों से बात करती है, उनसे कुछ लेती है, देती है अपने खोल में सिमटी नहीं रहती।

अब मैं तीन-चार बातें कह कर अपनी बात समाप्त करूँगा क्योंकि यह कथा तो अनन्त है। इस विषय पर मैं आजकल लिख भी रहा हूँ और सोच भी रहा हूँ।

किसी भी संस्कृति को समझने के लिए मैं ये समझता हूँ कि कम से कम छः-सात आयाम होने चाहिएँ—

पहला—जिसका कला से सम्बन्ध है, शिल्प। शिल्प का अर्थ, मैं कहता हूँ कि हर चीज़ के पीछे शिल्प है। बनाने की कला है। मेज़ दीखती है, लेकिन मेज़ के पीछे बढ़ई उसको बनाने की कला जानता है। वह दिखती नहीं, पर मेज़ उसी से बनती है। शिल्प के अनेकानेक आयाम हैं। मन्दिर में जाने और वहाँ बैठकर पूजा करने तक में शिल्प है। हर चीज़ का एक तरीका है। इतिहास है। जब आप ध्यान करते हैं वह भी एक शिल्प है। ध्यान का अर्थ क्या है, अपनी चेतना में परिवर्तन लाना। एक प्रसिद्ध स्थापति गणपति स्थापत्यविद् एक संगोष्ठी में यहाँ आए थे। उन्होंने स्थापत्य की एक भारतीय परिभाषा अपने भाषण में दी, जो बहुत अद्भुत थी। उन्होंने स्थापत्य के बारे में जो कुछ कहा, उसका अंग्रेज़ी में ट्रांसलेशन कुछ यों है—

"...Architecture is the organisation of space for the transformation of consciousness..."

एक अच्छी शिल्प रचना आपकी दृष्टि, चेतना, आत्मा, दिल को सबको पकड़ती है। किसी विशाल मन्दिर, मस्जिद, गिरजे में जाइए, आपके भीतर अचानक कुछ घटित होता है। अगर नहीं होता, तो बेकार है। यानि अंदर घुसते ही कुछ होता है। सिर्फ मन्दिरों में ही ऐसा नहीं होता, बड़े-बड़े गिरिजों में भी यही अनुभूति होती है। फ्रांस के कुछ विशाल गिरजाघरों को कभी देखिये। आपके भीतर कुछ होगा।

पर कला का अर्थ जिस तरह सीमित नहीं है वैसे ही शिल्प को इतना सीमित मत करिए।

दूसरा हर शिल्प, शास्त्र का रूप लेता है तो भिन्न बात होती है। और शास्त्र का रूप ले लेने के बाद क्या होता है—ये कथा भिन्न है। लेकिन इस पर विचार होना चाहिए कि जितनी भी विशाल सभ्यताएँ व संस्कृतियाँ हैं, उनमें शिल्प ही नहीं, बल्कि शास्त्र भी महत्त्वपूर्ण घटक है। आपके यहाँ भाषा का प्रथम शास्त्र बना। पाणिनी ने छठी शताब्दी में या इससे पहले अष्टाध्यायी की रचना की। भाषा ही तो मनुष्य को बनाती है। शिल्प तो भाषा में सब जगह है, क्योंकि बिना शिल्प के तो भाषा होती ही नहीं, पर भाषा का शास्त्र बनाना और उस शास्त्र का भारतीय संस्कृति पर कितना विशाल और व्यापक असर हुआ है ये आप सोच ही नहीं सकते। भाषाशास्त्र, भारतीय संस्कृति के मूल शास्त्रों में गिना जाता है।

अब शास्त्र के आगे क्या? शास्त्र के आगे संस्कार। मनुष्य आखिर क्या है? संस्कृति क्या है? संस्कृति-संस्कृत-संस्कार। मनुष्य अन्य जीवों से भिन्न है। शारीरिक रूप से नहीं सांस्कृतिक रूप से मनुष्य ने हर बायोलॉजिकल चीज़ को संस्कृति में बदला है। मनुष्य की विधि, 'प्राकृतिक' को 'सांस्कृतिक' बनाती है। उसे एक अर्थ देती है। किस प्रकार आपकी सभ्यता और संस्कृति ने आपके जीवन के हरेक अंश को, मर्म को संस्कारित किया है वही महत्त्वपूर्ण है। आप केवल एक प्राणि मात्र नहीं हैं, संस्कृति बार-बार यह बताती है।

और संस्कार के बाद क्या? पुरुषार्थ।

वह क्या है जो आपके जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करता है? आपकी भावना, कर्म, ज्ञान को एक अर्थवत्ता देता है? कहानी लम्बी है कि ऐसा प्राणी जो अन्य प्राणियों की ही तरह जन्म लेता है और मृत्यु को भी प्राप्त होता है, अपने को कैसे उस प्राणि जगत् से भिन्न करता है और एक देश-काल में होते हुए भी अपने अस्तित्व को एक ऐसा अर्थ प्रदान करता है जो देश-कालातीत है। देश और काल से जो परे है उसे भावना के क्षेत्र में, देशकाल से जोड़ना, कर्म के क्षेत्र में यही पुरुषार्थ है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के अलावा भी पुरुषार्थों की संज्ञा और संख्या अनेक है। इस पर चर्चा होनी चाहिए कि आज के संदर्भ में कितने पुरुषार्थ कहे जा सकते हैं।

स्मृति—आपने श्रुति-स्मृति सुना होगा। मनुष्य में स्मृति के अलावा क्या है? स्मृति से हमारा सम्बन्ध जीवन्त प्रकार का है। अगर हम पुरानी परिपाटी से यहाँ शास्त्र चर्चा करते होते और आप में से कोई एक, प्रश्न पूछता तो मैं कहता—हे मित्र! ठीक ऐसा ही एक प्रश्न द्वापर युग में अमुक ने भी अमुक ऋषि से पूछा था जिन्होंने इसका यह उत्तर दिया था। ये क्या है? यह जोड़ना है। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं अपनी तरफ से कोई नई बात नहीं कहूँगा पर स्मृति के द्वारा हम उसकी निरन्तरता से जुड़ते हैं। महाभारत की हर कथा में हमको हर जगह पुराने प्रसंग, पुराने संदर्भ मिलते हैं। यही स्मृति है। इसकी परम्परा है। और कल्पना और वासना। अनादि-वासना। अनादि वासना का मूल है। अंग्रेज़ी में हम इसे

कहेंगे—ड्रीम्स एण्ड डिज़ायर्स। आपकी संस्कृति के मूल में क्या वासना है? ये कथाएँ हमें कई दिशाओं में ला सकती हैं। लेकिन मैंने प्रारम्भ में भाषा और नाम-रूप की बात की थी।

जब हम कहते हैं—शिल्प, शास्त्र, संस्कार, पुरुषार्थ, स्मृति, कल्पना, वासना! ये शब्द क्या हैं? ये सब हमारी परम्परा के शब्द हैं। ये आपकी जिस तंत्री को छूते हैं तो आपके भीतर कुछ होता है। यह इसलिए होता है कि हर भाषा, नाम, रूप में हमारा अपना कुछ है। हमें अन्यों के बारे में भी पूछना चाहिए उनका शिल्प क्या था? उनके शास्त्र क्या थे? संस्कार की विधि क्या है? इत्यादि-इत्यादि।

तब आपके पास अपने सवाल होंगे और चीज़ों को देखने का अपना एक ढ़ंग होगा।

तो मैं केवल इतना कह कर यह चर्चा समाप्त करूँगा कि भारतीय संस्कृति की आज बहुत लोग खोज कर रहे हैं। टी.वी. पर एक आता था—भारत की खोज। भारतीयों को भी भारत की खोज करने की ज़रूरत पड़ गई। पर खोज की उतनी ज़रूरत नहीं है। थोड़ी बहुत है, तो इससे ज़्यादा इस बात की है कि हम अपना ऋण उस परम्परा के प्रति महसूस करें और अपनी शक्ति के अनुसार उसे और आगे ले जाएँ। ❑

कलाएँ एवं मानवीय ज्ञानात्मक विधाएँ

अबू सैयद अय्यूब भारत में एक सर्वाधिक नागर और सुसंस्कृत विचारक हैं, लगभग जीवन पर्यन्त समान रूप से, वे दर्शन एवं साहित्य में रुचि रखते रहे हैं। भारत में कदाचित्, कुछ ऐसे ही विचारक हैं जो दर्शन एवं साहित्य दोनों में वही संवेदनशीलता रखते हैं जैसे कि प्रोफेसर अयूब ने अपने जीवन एवं विचार में रखी। वास्तव में इनके जादवपुर व्याख्यान जिनका शीर्षक 'कविता एवं सत्य' था। इनके विचारों के दो केन्द्रीय सरोकारों को एक ही Focus (केन्द्र) में ले आते हैं। तथापि किस प्रकार का सत्य कला प्रदान करती है एवं वह विज्ञान के सत्य से, और दर्शन के सत्य से किस प्रकार सम्बन्धित है। क्या सत्य विविध प्रकार के हैं, अथवा यदि सत्य एक है, तब हम किस प्रकार यह दावा करते हैं कि विज्ञान एवं कला दोनों ही हमें सत्य प्रदान करते हैं?

बेशक, विज्ञान जैसी कोई वस्तु नहीं होती। केवल विविध विज्ञान होते हैं। इसी प्रकार कलाओं के अतिरिक्त कला नाम की कोई चीज नहीं होती। लेकिन केवल विविध कलाएँ हैं। तब क्या हमें यह मानना चाहिये कि न केवल ऐसी कोई वस्तु है जो वैज्ञानिक सत्य है वरन् यह भी कि यदि कलायें किसी प्रकार के सत्य को सम्प्रेषित करती है तब ऐसा कोई विशिष्ट कलात्मक सत्य भी नहीं है। सत्य तब विविध या कहें इस मत में बहुआकारिक/बहुरूप लिये होगा। यहाँ सत्य जो हम विज्ञान में पाते हैं एवं वह जो हम कलाओं में पाते हैं न केवल भिन्न होंगे वरन् हमें सत्य को पुनः अनेक, व्यापक क्षेत्रों में विभक्त करना होगा। अतः सत्य की शुद्ध, परम अखंडित एकत्वता अनेक टुकडों में विखंडित हो जायेगी तथा प्रत्येक खंड अपने में परमत्व का दावा करने लगेगा और शायद उस एकत्व की माँग लिये होगा जिसमें प्रत्येक अंश अपने ढ़ंग से एकत्व चाहेगा।

यहाँ तक कि विज्ञानों में भी ऐसी कोई चीज नहीं है जो कोई ज्ञानपिंड़ की एकत्वता (समग्रता) हो और सत्य होने का दावा कर सके। जहाँ तक कलाओं की बात है स्वयं अयूब ने कविता, साहित्य एवं कला की अन्य विधाओं के बीच मौलिक भेद किया है। लेकिन यदि हम इस भेद को स्वीकारते हैं, तब क्या हमें यह